

## सामाजिक मूल्यों का क्षरण : एक समस्या

**सुबोध कुमार**

भारत एक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक राष्ट्र है। आर्ष संस्कृति ने इसे अन्य राष्ट्रों से अलग पहचान दी है। यहाँ के सामाजिक जीवन में मानव मूल्यों एवं मान्य परम्पराओं का विशिष्ट स्थान है। भौतिक प्रगति के साथ-साथ सांस्कृतिक उन्नति ही भारत के प्रगति की आधारशिला है। जहाँ पश्चिम के देश भौतिक उत्थान को ही सबकुछ मानते हैं, वही भारत भौतिक संसाधनों को जीवन जीने का एकमात्र साधन मानता है। भारतीय संस्कृति कर्मफलवाद, सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय, सर्वधर्मसंभाव आदि जैसे सिद्धांतों पर अवलंबित है। इन्हीं आदर्शों पर हमारे समाज का मूल्य टिका हुआ है। कर्मफलवाद सिद्धांत जहाँ हमें गलत कार्यों को करने से रोकता है तथा आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्त करता है, वही अन्य सिद्धांत सामाजिक समरसता, सामाजिक सौहार्द, सामाजिक सद्भाव आदि को बनाये रखने में मददगार है। लेकिन वर्तमान समय में सामाजिक मूल्यों में गिरावट आयी है। लोगों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा अनियंत्रित रूप से बढ़ी है। समष्टि की भावना को व्यष्टि ने प्रभावित किया है। पर के स्थान पर स्व की भावना बलवती हुई है। मानव मूल्यों की तिलांजलि देकर संसाधन संचय की होड़ सी लग गयी है। मान्य परम्पराओं एवं वर्जनाओं को तोड़ने की परम्परा चल पड़ी है। सामाजिक बोध तिरोहित हो गया है। समाज में नैतिक रूप से अमान्य कर्मों को प्रतिष्ठापित करने की कुत्सित प्रयास किया जा रहा है। सामाजिक सौहार्द, सद्भावना व भाईचारा को बिगाड़ा जा रहा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान में जात-पात, छुआछूत, उच्च-नीच आदि जैसे गैरबराबरी की भावना को निरुत्साहित किया गया है। दबे-कुचले, शोषित-वंचितों आदि को मुख्य धारा में लाने के लिए विशेष प्रावधान भी किये गये हैं। लेकिन यह विडम्बना ही कहा जायेगा कि इतने सालों के बाद भी उनकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हो सका है। अलबता उनके नाम पर उनके ही समाज के कुछ लोग जरूर मोटे हो गये हैं तथा अपनी स्वार्थी की सिद्धि हेतु व

राजनीतिक लिप्सा की तुष्टि हेतु उनको इस्तेमाल करने में जरा भी नहीं हिचकते। यह विशेष प्रावधान सामाजिक उत्थान का औजार न बनकर सामाजिक नफ़रत फैलाने का औजार बन गया है। सामाजिक विद्वेष की भावना कम होने के बजाय बढ़ी है। जातिगत भावना को हवा देकर सामाजिक सौहार्द को बिगाड़ने का काम किया जा रहा है। ऐसा इसीलिए हो रहा है कि विकास की राजनीति करना खतरों से भरा खेल है, जबकि जातिगत व सांप्रदायिक कार्ड खेलकर वोट को आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। यदि सच पूछिये तो यह सब देखकर स्वर्गवासी संविधान निर्माताओं का दिल भी कराह उठता होगा! बाबा साहेब का हृदय कितना टिस और कचोट अनुभव करता होगा, जब उनके नामों का गलत इस्तेमाल कर राजनीतिक रोटियाँ सेकी जाती है! छद्मवेशधारी और सामाजिक उपकार का लवादा ओढ़े हुए रहनुमाओं की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। ऐसा इसीलिए हुआ है कि व्यक्ति का आचरण गिरा है और सामाजिक मूल्यों को चोट पहुँचाया गया है। जात-पात, धर्म-सम्प्रदाय के नाम पर रोटी सेकना एक प्रचलन बन गया है।

इस धरा पर स्त्री और पुरुष ईश्वर की अनुपम रचना हैं। इस संसार को निरंतर कायम रखने में इन्हीं दोनों की भूमिका है। इस व्यवस्था में किसी प्रकार की अराजकता न हो इसीलिए समाज ने विवाह जैसे व्यवस्था को कायम किया। वस्तुतः विवाह अपने वंश परम्पराओं को कायम रखने का ही दूसरा नाम है। लेकिन यह विडम्बना ही कहा जा सकता है कि इस व्यवस्था को भी क्षतिग्रस्त करने का प्रयास किया जा रहा है। समलैंगिकता और विवाहेतर संबंध की स्वकृति इसी की कड़ी है। एक ओर तो समाज विज्ञानियों द्वारा प्रकृति के नियमों का अनुसरण करने की नसीहत दी जा रही है तो दूसरी ओर अप्राकृतिक यौनाचार को कानूनी मान्यता प्रदान की जा रही है। क्या अप्राकृतिक कर्मों का संपादन प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं है? क्या ऐसे ही प्रकृति की ओर लौटा जा सकेगा? विचारणीय प्रश्न है। समलैंगिकता और विवाहेतर संबंध दोनों मुक्त भोग की श्रेणी में आते हैं। भारतीय संस्कृति में कभी भी मुक्त भोग को मान्यता नहीं प्रदान की गयी है। यह सदा ही निंदनीय कर्मों में परिगणित किया गया है। पश्चिम के देशों में मुक्त भोग की अनुमति है। लेकिन इसके भयंकर परिणाम से दुनिया वाकिफ़ हो चुका है। एड्स और अन्य कई यौन जनित असाध्य रोग इसी मुक्त भोग का परिणाम है। इसके अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं का उत्पन्न होना भी लाज़मी है। मुक्त भोग की ईच्छा मानसिक अनुशासन की कमी से उत्पन्न होता है। यह

हार्मोनल कारणों से भी हो सकता है। किसी भी अवस्था में इसका समाधान सम्भव है। जब अनुशासन किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र को महान बना सकता है तो मानसिक अनुशासन की ऐसी अनदेखी आखिरकार क्यों?

विगत कुछ समय से पूजा स्थलों में प्रवेश को लेकर भी कतिपय संगठनों व लोगों के द्वारा अभियान चलाया गया है। किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय में पूजा की अपनी-अपनी पद्धतियाँ हैं। इसी क्रम में कहीं स्त्री का प्रवेश वर्जित है तो कहीं पुरुष का। पूजा नितांत व्यक्तिगत चीज है, किन्तु जब सामूहिक स्थलों पर पूजा व अनुष्ठान संपादित किये जाते हैं तो उस संस्थान के नियम-कायदे का अनुसरण करना भी निहायत आवश्यक हो जाता है; ठीक उसी प्रकार से जिसप्रकार जब हम राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या किसी कार्यालय में वहाँ के पदाधिकारियों से मिलने जाते हैं तो वहाँ के नियम-कायदे के अनुरूप ही मिलने की अनुमति दी जाती है, न कि हमारे शर्तों पर। इसके लिए लोग हठ भी नहीं करते। लेकिन यदि पूजा स्थानों में मान्य परम्पराओं को तोड़ने की हठ ही है तो उन्हें अपने घर पर उन देवी-देवताओं की प्रतिमा स्थापित कर लेनी चाहिए और जी भर कर अपने हठ की तुष्टि कर लेनी चाहिए। इसमें किसी भी प्रकार की कोई वंदिशे नहीं है। लेकिन अफ़सोस तब होता है जब ऐसे व्यक्ति समाचार में बने रहने के लिए ऐसे कुत्सित प्रयास करते हैं। यदि जाति के नाम पर पूजा स्थलों में प्रवेश से वंचित किये जाने का प्रयास किया जाता है तो वह निश्चित रूप से विरोध के योग्य है। परन्तु क्या इस प्रकार से आस्था और परम्पराओं को आघात पहुँचा कर सामाजिक क्रांति लाया जा सकता है? क्या मान्य परम्पराओं को अन्धविश्वास के नाम पर बिना साहित्यिक तर्क व साक्ष्य के खारिज किया जा सकता है?

माता-पिता एवं गुरुजनों का सदैव से ही समाज में श्रेष्ठ स्थान रहा है। लेकिन आज यदि किसी का सबसे दयनीय स्थिति है तो वह माता-पिता एवं गुरुजन ही हैं। माता-पिता के लिए अब घर का एक कोना भी निरापद नहीं रहा है। जो माता-पिता अपने संतानों के फ़िक्र में अपनी सारी जिन्दगी खपा देते हैं, अब उनके लिए वृद्धाश्रम ही एक स्थान शेष बचा है। और तो और अब उनके मृत्यु के पश्चात् उनके शव को उनकी संताने कूड़ा-कर्कट समझकर यो ही नगर निगम जैसे संस्थाओं को सौपने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिए हैं। माता-पिता की आत्मा को कितना कष्ट पहुँचता होगा? क्या इससे भी ज्यादा किसी समाज का अधःपतन हो

सकता है? जीते जी माता-पिता की सेवा की बात करनी ही अब बेमानी हो गया है! गुरुजन की हालत भी ऐसे ही है। हो सकता है उनमें कुछ कमियाँ हो, लेकिन जिस प्रकार से शासन, प्रशासन और समाज द्वारा उनको अपमानित करने का काम किया जा रहा है, वह किसी से छुपी हुई नहीं है। मैं दीक्षा गुरु की बात यहाँ नहीं कर रहा हूँ, बल्कि शिक्षा गुरु की बात कर रहा हूँ। गुरुजनों की छवि को ऐसे पेश किया जाता है मानो समाज का सबसे गुनहगार व्यक्ति वे ही हैं। दूसरी ओर शासन-प्रशासन में बैठे व्यक्ति स्वयं को सबसे बड़ा संस्कारी, कर्तव्यनिष्ठ और साक्षात् वृहस्पति का अवतार मानते हैं। इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है?

अस्तु कहा जा सकता है कि सामाजिक मूल्यों का क्षरण स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है। समाज के रहनुमा ही समाज को रसातल में ठेलने में लगे हैं। सामाजिक मूल्यों एवं मान्य परम्पराओं को अंगूठा दिखाने का कार्य छुआछूत रोग जैसा फैल रहा है। सामाजिक सौहार्द और धार्मिक सहिष्णुता पर कुठाराघात किया जा रहा है। क्षुद्र स्वार्थों के खातिर सनातन संस्कृति को बदनाम करने का कुत्सित प्रयास किया जा रहा है। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि सामाजिक मूल्य की जड़ पाताल में है और संस्कृति व आध्यात्मिक शक्ति से से उसे खाद और पानी मिलता है।

